



## आदिवासी साहित्य: स्वरूप, विस्तार और संभावनाएं

डॉ.कनुभाई वसावा

सहायक अध्यापक

गुजराती भाषा.साहित्य विभाग

गुजरात विद्यापीठ

अहमदाबाद, गुजरात, भारत

### शोध संक्षेप

भारतीय साहित्य में प्राचीन काल से ही आदिवासियों का उल्लेख तो होता रहा है, लेकिन आदिवासी साहित्य का नहीं। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि में आदिवासियों के अनेक उल्लेख आते हैं परन्तु उनके साहित्य की अधिक चर्चा नहीं होती। प्रस्तुत शोध पत्र में आदिवासी साहित्य के स्वरूप, विस्तार और संभावनाओं पर विचार किया गया है।

### भूमिका

सभी प्रकार के अकादमिक विषयों का उद्भव लोकविद्या में से हुआ है। विश्व की सभी कलाओं का समावेश लोकविद्या में हो जाता है। इसलिये आदिवासी साहित्य की चर्चा करने से पहले आदिवासी साहित्य किस प्रकार प्रकाश में आया इसकी चर्चा करनी चाहिये। ऐलेक्ज़ेंडर एच.के.प्प. फोकलोर की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि "फोकलोर का मतलब लोगों की अलिखित परंपरा की सामग्री। नागरिक संस्कृति और शैक्षणिक संस्कृति से अलग ऐसा निरक्षरों का साहित्य।" इस व्याख्या में सभ्यता का अर्थ अंतर्निहित है।

### लोकविद्या

एक बात ये स्पष्ट होती है कि अशिक्षित, अनपढ़ लोगों के साहित्य के लिये ही लोक विद्या संज्ञा का प्रयोग किया है, अर्थात् मौखिक परंपरा के साहित्य के लिये ही लोकविद्या संज्ञा का प्रयोग किया गया है। आज जो लोक विद्या हमें प्राप्त हुई है उसे तीन भागों में बाँटा जा सकता है : 1

आदिवासी लोकविद्या, 2 ग्रामीण लोकविद्या और 3 शहरी लोकविद्या। जिसे हम लोकविद्या कहते हैं उसकी विषय सामग्री हमें आदिवासी और ग्रामीण प्रजा से प्राप्त होती है। इन सब में प्राचीनतम स्रोत आदिवासियों से प्राप्त होते हैं। इन आदि स्रोतों के बारे में श्री हसु याज्ञिक कहते हैं कि, "लोक विद्या के प्रकारों पर प्रशिष्टीकृत कलाओं, उनके शास्त्रों, सामग्री और नियमों का कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं प्रच्छन्न असर पड़ता है। इसके मुकाबले में आदिवासी नियमों पर ऐसे प्रशिष्टीकृत नियमों और व्यवहारों का प्रभाव कम है। इस कारण यदि प्राचीन रूप जानना हो या आदि स्रोत जानना हो तो आदिवासी नियमों की सामग्री विशेष उपयोगी और निर्णायक बनती है।"<sup>2</sup>

जयमल्ल परमार फोकलोर को तीन भागों में बाँटते हैं। 1 लोक विश्वास और अंध-परंपराएँ, 2 रीति-रिवाज और प्रथाएँ, 3 लोक साहित्य। जयमल्ल द्वारा पहले भाग में अंध-परंपराओं की



बात की गई है, किन्तु परंपराएँ कभी अंधी नहीं होती। कोई भी व्यक्ति समझे बिना या किसी कारण के बिना कोई कार्य नहीं करता। इसलिये परंपराओं को हम अंधी नहीं कह सकते। इसके लिये हम मान्यताएँ शब्द का प्रयोग कर सकते हैं। लोक साहित्य के विषय में डॉ.बार्कर कहते हैं कि "लोक साहित्य अर्थात् असंस्कृत लोगों का ज्ञान। संस्कृति से दूर रहने वाले जाति-समूहों का ज्ञान।"<sup>3</sup> इस व्याख्या में संस्कृति किसको गिना जाए और असंस्कृति किसको गिना जाए इसकी कोई स्पष्टता नहीं हो सकती। ऐसा प्रतीत होता है कि इस व्याख्या में पश्चिम के बुद्धिवादी विचारधारा के आधार का प्रयोग किया गया है।

लोक साहित्य लोक समाज में से उत्पन्न होता है। इस साहित्य की भूमिका महज आनन्द प्रदान करने की नहीं है बल्कि लोक समूह भावना और संस्कृति को टिकाए रखना तथा उसके अस्तित्व की चर्चा करने में भी इसकी अहम भूमिका होती है। वसावा समुदाय का व्यवहार उसकी संस्कृति पर निर्भर करता है। समुदाय के द्वारा तय किये गए नियमों के आधार पर व्यवहार संचालित होता है, इसलिये समुदाय में संबंधों का महत्व अधिक है। वसावा जीवन व्यवस्था समाज एवं संस्कृति को बनाए रखती है जो कि उसकी संस्कृति का एक भाग है। इसलिये कह सकते हैं कि वसावा समुदाय का साहित्य लोक उपयोग के लिये रचा गया साहित्य है। वसावा समुदाय के अस्तित्व की समस्या तो प्रत्येक जगह पर समान ही होती है किन्तु उसके समाधान स्थानीय परिस्थिति के हिसाब से अलग-अलग होते हैं।

भारत में परंपरागत आलोचना में जिसके पास शास्त्र हैं उस व्यक्ति को समूह (लोक) के रूप में जाना जाता है और जिसके पास शास्त्र नहीं है उसे लोक के रूप में जाना जाता है। लोक के रूप

में पहचान रखने वाले समुदायों ने शास्त्रों में से प्रसंग, पात्र आदि को लेकर साहित्य का सृजन किया है। लोक साहित्य में मुख्यधारा के साहित्य यथा रामायण, महाभारत आदि की कथाओं, घटनाओं, पात्रों आदि को लेकर कृष्ण, राधा, राम, सीता वगैरह पात्रों को लेकर साहित्य का सृजन किया गया है। आदिवासियों का जीवन-परिवेश, नदी, पहाड़, पशु, पक्षी, दिनचर्या, शिकार, नृत्य आदि के साथ चलता है। ये दैनिक जीवन की घटनाएँ साहित्य का आधार बनती हैं।

जिस साहित्य का कोई एक विशिष्ट रचनाकार नहीं होता, ऐसे तमाम साहित्य को लोकसाहित्य परंपरा कहा जाता है। क्योंकि ऐसा साहित्य कोई एक व्यक्ति नहीं अपितु पूरे समाज का प्रतिबिम्ब होता है। कई आलोचक ऐसा मानते हैं कि लोकसाहित्य का अपना सौंदर्य होता है। आदिवासी साहित्य महज सौंदर्याधारित नहीं किन्तु उसमें सहजपन होता है। सौंदर्य अंततः हृदय की निर्मलता में ही बसता है न कि बाह्य रूप में। आदिवासी सौंदर्य द्वारा सत्य का साक्षात्कार नहीं करते बल्कि सत्य के द्वारा सौंदर्य का साक्षात्कार करते हैं। इसलिये बाह्य दिखावे को प्रधानता देने कि बजाए उसके पीछे के कारण सौंदर्य का आधार बनते हैं। एक सामान्य मान्यता है कि साहित्य निर्माण की शक्ति या क्षमता हर किसी में नहीं होती। यदि इस मान्यता को मान भी लिया जाए तो भी सर्जन इन्द्रियजन्य एवं अनुभवजन्य होता है ये भी स्वीकार करना पड़ेगा। आदिवासी साहित्य भी इन्द्रियजन्य एवं अनुभवजन्य होता है।

आदिवासी साहित्य एवं लोक साहित्य

आदिवासी साहित्य एवं लोकसाहित्य के बीच भिन्नता है। आदिवासी साहित्य सभ्यता के प्रभाव से मुक्त एक सहज अवस्था होती है। आदिवासी



साहित्य में शास्त्रों के पात्र, कथावस्तु आदि का उल्लेख होता है तो यह समझना चाहिये कि ये आदिवासी साहित्य नहीं है या फिर यह कहा जा सकता है कि ये उक्त प्रभाव उन अन्य समुदायों का है जो समय-समय पर इनके साथ आकर रहे और आदिवासियों में उनकी चर्चाएँ होने लगीं। इसलिये वर्तमान में जिन कथाओं या कहानियों में शास्त्राधारित साहित्य यदि आदिवासियों में देखने को मिलता है तो उसे आदिवासियों के मूल स्रोत का साहित्य नहीं माना जा सकता, बल्कि गैर आदिवासी प्रभावित साहित्य माना जाना चाहिये। हसु याज्ञिक इस विषय में कहते हैं कि "प्राचीन, मध्यकालीन समय से ही कंठ-प्रवाह का लिखित के साथ और ग्रामीण का आदिवासी कंठ-प्रवाह के साथ आदान-प्रदान का संबंध तो था ही। इस सबमें सबसे बड़ा योगदान बारोटों का है। युद्ध में पराजय होने पर या किसी अन्य घटना में सैन्य-विखंडित हो जाए तो सैनिकों का पलायन अक्सर जंगलों की तरफ या पहाड़ों की तरफ होता था। ये पलायन करने वाले सैन्य समूह इन इलाकों में जाकर वहाँ के आदिवासी भीलों आदि के साथ रहने लगते थे। इन्हीं सैनिकों के कुल के बारोट इन समुदायों के बीच जाकर कथा-वार्ताओं के साथ विधि-विधान करवाता था। आगे चलकर इसी बारोट परंपरा से भीलों में साधु, भोपा आदि की विशिष्ट सामाजिक इकाइयों का विकास हुआ और ये लोग भी भील बन गए।"<sup>4</sup>

इस विधान से ये तो स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासी साहित्य में शास्त्रों का जो प्रभाव देखने को मिलता है उनमें इस प्रकार की घटनाओं का योगदान मुख्य रूप से रहा है। इसलिये ये भी एक शोध का विषय है कि आदिवासी साहित्य में शास्त्रों या पुराणों का जो असर देखने को मिलता है वह वास्तव में आदिवासियों का साहित्य है या

फिर किसी अन्य समुदाय से आया हुआ साहित्य है।

आर्चर टेलर के अनुसार "लोकविद्या अर्थात् मुख्य परंपरा की या रीतिरिवाजों की परंपरा से आई हुई सामग्री और उससे संबंधित सारी जानकारी या विद्या। विद्या का सर्वसामान्य अर्थ किसी के पास बैठ कर प्राप्त किया गया ज्ञान। किन्तु आदिवासी साहित्य को परंपरागत तरीके से मिलता ज्ञान ही गिना जा सकता है। हसु याज्ञिक भी लोर के विषय में बताते हुए कहते हैं कि लोर शास्त्र के बिना की विद्या है। इसमें एक जगह बैठ कर या किसी एक व्यक्ति के पास बैठ कर प्राप्त किया गया ज्ञान लेने की आवश्यकता नहीं है। ये तो परंपरागत तरीके से लिया गया ज्ञान होता है। देख कर या सुन कर अनुकरण करने के साथ यह ज्ञान प्राप्त होता है। यह शास्त्र की नहीं बल्कि परंपरा की अंतरसूझ की विद्या है। शिक्षण के लिये जो विद्याएँ हैं, उससे अलग है लोर, इसका कोई शास्त्र या शिक्षक नहीं है।"<sup>5</sup>

इस सबके बावजूद भी लोर में शास्त्रीयता नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। लोर से ही शास्त्र का निर्माण होता है। लोर एक प्रक्रिया है। हसु याज्ञिक कहते हैं कि "लोर अर्थात् बिना पढ़े-सीखे महज वातावरण में से ही पालन-पोषण के साथ ही जो परंपरागत ज्ञान प्राप्त होता है वही लोर है।"<sup>6</sup> लोकविद्या द्वारा व्यक्ति सामाजिक बनता है। लोर के प्रभाव से ही वो नीति-अनीति, अच्छे-बुरे का ज्ञान सीखता है।

"लोकसाहित्य, लोक संगीत, लोकनाट्य, लोकनृत्य, लोक चित्रकला, लोक स्थापत्य या गृह निर्माण लोकरंजक कला आदि जो कुछ भी लोकजीवन के साथ परंपरागत तरीके से जुड़ा हुआ है उसको लोकविद्या कहा जाता है। इसमें



कहावतें, बोली, तंत्र-मंत्र, भरथ-गूंथण, नीपना-चोपना, नट-रमत, मदारी एवं कठपुतली का खेल, खेती-पशुपालन के साथ जुड़ी परंपराएँ, लोकमानस को व्यक्त करती मान्यताएँ, कारण-निवारण की अनेक विधियाँ आदि अनेक बातों का समावेश लोकविद्या में होता है।<sup>7</sup> लोकविद्या के इस अर्थ के हिसाब से लोकविद्या में संपूर्ण जीवन शैली आ जाती है।

लोक साहित्य मनुष्य के जीवन के प्रत्येक क्षण के साथ जुड़ा हुआ है। माता के गर्भ से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कारों का समावेश लोकसाहित्य में होता है। जसवंत शेखड़ीवाला कहते हैं कि “परंपरागत साहित्य अर्थात् मौखिक परंपरा से निकला, लोगों के कंठ में निवास करने वाला और उसी से प्रसारित होने वाला साहित्य। लोगों द्वारा लोगों के लिये लोक बोलियों में सर्जित लोक संस्कृति और प्राकृतिक परिवेश को दर्शाता हुआ, लोगों का कंठस्थ साहित्य अर्थात् लोक साहित्य।”<sup>8</sup> लोक साहित्य की इस व्याख्या में लोगों का समूह केन्द्र में है।

लोक साहित्य में किसी एक समुदाय की संस्कृति प्रतिबिंबित होती है फिर भी किसी शिष्ट साहित्य जितना प्राधान्य लोक साहित्य को नहीं दिया जाता। इतना ही नहीं कितने ही विद्वान तो लोकसाहित्य को साहित्य ही मानने तो तैयार नहीं हैं। इस प्रकार की स्थिति भारत एवं भारत के बाहर दोनों जगहों पर है। कार्ल मार्क्स का कहना है किए ‘वर्ग स्थिति एवं दृष्टिकोण के हिसाब से साहित्य के संदर्भ में भी मान्यताएँ बदलाती रहती है।’<sup>9</sup> लेकिन एक बात यह भी माननी होगी कि लोक साहित्य में सब ठीक ही होगा ऐसा कहा नहीं जा सकता। इसमें से बहुत सारा साहित्य अनुपयोगी भी होता है फिर भी समाज में प्रचलित होता है। हर्बर्ट स्पेंसर ने कहा

है कि “जैसे-जैसे समाज की धारण-शक्ति की कार्य क्षमता बढ़ती गई वैसे-वैसे कला द्वारा व्यक्त होने वाली अनुपयोगी शक्ति का प्रमाण भी बढ़ता गया।”<sup>10</sup> परंतु कई बार इस प्रकार का अनुपयोगी साहित्य पूरे समुदाय की कलाकृति नहीं भी होता है, बल्कि कोई व्यक्तिगत सर्जन भी हो सकता है, जिससे कि उसके सार्वत्रिकीकरण की प्रक्रिया पूरी नहीं हो पाई है। सामाजिक संगठन कलाकृति में प्रदर्शित होता है। ज्यो मेरी ग्यु के अनुसार “महान कला हमेशा सामाजिक ही होती है और महज स्वांतः सुखाय रचना करने वाला सर्जक उसकी दृष्टि में समस्यामूलक होता है।”<sup>11</sup> प्रत्येक कला का सर्जन हमेशा सामाजिक प्रभाव से होता है। साहित्य समाज में एकता स्थापित करने का काम करता है।

आदिवासी साहित्य के संदर्भ में शोध करने वाले विद्वान आदिवासी मूल्यों एवं आदर्शों की तरफ आकर्षित हुए हैं। कतिपय शोधार्थियों में आदिवासियों के साथ काम करते-करते उनके प्रति कोमल भावना का विकास भी हुआ है। इस संदर्भ में सुरेश जोशी तीन भाइयों का उदाहरण देते हैं। जिसमें ओर्लान्डो, कलोडियो और लिये ये तीन भाई नोबल पुरस्कार को भी नकार देते हैं।

इस अवगणना के विषय में उन्होंने कहा कि “हमारे विनम्र मतानुसार वास्तव में इस जाति की रक्षा अर्थात् इनको कम मान देना और इनके जीवन मूल्यों के हिसाब से ये लोग जी सकें इसका वचन देना। हमारी कही जाने वाली संस्कारी प्रजा भविष्य में आत्मज्ञान कर सके ऐसी परिस्थिति खड़ी ना करे तब तक इनको इस समाज में शामिल करने का प्रयत्न इनके विनाश की योजना का अमल करने के बराबर गिना जाएगा। हम अभी तक इनको अपने में शामिल



करने के लिये पूरी तरह से तैयार नहीं हैं।<sup>12</sup> ये उदाहरण देने के बाद सुरेश जोशी कहते हैं कि "इन आदिवासीयों में प्रचलित दंतकथाएं इनके आचार-विचार एवं धार्मिक विधियों को अच्छी तरह से समझना हो तो ये लोग मानव एवं पशु, रात एवं दिन, प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक के बीच के संबंधों को किस प्रकार से देखते हैं इसको अच्छी तरह से समझ लेना पड़ेगा। हमारे सांस्कृतिक भेदभावों को कुछ देर के लिये भूलना पड़ेगा तो ही इनके लोकसाहित्य में मानव के संबंध में जो सत्य प्रकट होता है उसको हम समझ सकेंगे।"<sup>13</sup>

हसु याज्ञिक के अनुसार ईस्वी सन् 1915 में पहली बार दक्षिण गुजरात के भीलों के साहित्य का संपादन किया गया था। 1915 में श्रीनाथजी महेश्वर पाठक ने 'भीलोंना गीत' नामक ग्रन्थ का संपादन किया था। इससे यह कहा जा सकता है कि पहली बार दक्षिण गुजरात के आदिवासियों के साहित्य का संपादन शुरू हुआ था। श्री नाथजी महेश्वर का यह संग्रह अभी तक मुझे प्राप्त नहीं हुआ है। वसावा समुदाय का विशेष संपादन लोकसाहित्य समिति द्वारा शुरू की गई कार्यवाही दरम्यान प्राप्त सामग्री में देखने को मिलता है। संग्रह.1 में राजपीपला प्रदेश के लोकगीतों का संग्रह है जो कि माधुभाई पटेल द्वारा संपादित किया गया है। संग्रह.11 में राजपीपला के आदिवासियों के विरह गीत हैं जो चंद्रशोभा देशमुख के पास से मिले हैं। संग्रह.12 में डेडियापाडा के आदिवासियों के विरह गीत हैं जो चुनीभाई भट्ट के पास से मिले हैं। ऐसे गिने-चुने संपादन ही वसावा समुदाय के मिलते हैं। इसमें भी विशेष बात यह है कि अन्य आदिवासी समुदाय की तुलना में वसावा समुदाय के गीतों का संपादन बहुत कम हुआ है।

भीली लोकसाहित्य का इतिहास देखने से पता लगता है कि गुजरात में सर्वप्रथम दस्तावेजीकरण 1831 में शुरू हुआ लगता है। परमपाठक इस दस्तावेजीकरण के विषय में बताते हैं कि "मुझे जो दस्तावेज मिले हैं उसके अनुसार गुजरात शालापत्र सामयिक के 1831 के साल के नवंबर-दिसंबर महिने के अंक में सूरत जिले के मांडवी परगना में बलती कालीपरज बोली के विषय में एक परिचयात्मक लेख मिलता है।"<sup>14</sup> ये लेख मांडवी तालुका के सठवाव गाँव में पढ़ाने वाले महेताजी मोहनभाई नीछाभाई द्वारा मिलता है। इस लेख को दक्षिण गुजरात के आदिवासियों का प्रथम दस्तावेजीकरण कहा जा सकता है। शालापत्र के 1895 दिसंबर के अंक में जीवीभाई देसाई नामक एक महेताजी अनार्य लोकोनी भाषा नामक एक लेख लिखते हैं। वसावा समुदाय विषय में तो शांतिभाई आचार्य एवं जयानंद जोशी का संपादन ही गिना जाता है। जयानंद जोशी के पास से राजपीपला के आदिवासी छेलियागीत, होली गीत, लग्न गीत : एक अध्ययन एवं शांतिभाई के पास से राजपीपला विभाग की आदिवासी बोली ग्रंथ मिलता है। इसके बाद लोकसाहित्य समिति की रचना 1958 में हुई तब से इस कार्य ने गति पकड़ी। वसावा समुदाय के विषय में विशेष तौर पर एम.ए. एवं एम.फिल. के लघु शोध प्रबन्ध तैयार किये गए हैं, किन्तु ये कार्य अभी ग्रन्थालय तक ही सीमित हैं, जनसमुदाय तक नहीं पहुँचा है।

आदिवासी साहित्य की विभावना

आदिवासी लोकसाहित्य जैसे शब्द का प्रयोग में कर रहा हूँ तब मूल अंग्रेजी के फोक लिटरेचर या लोक वाङ्मय जैसा उसका अर्थ नहीं है क्योंकि ये अर्थ स्वीकार करने से मूल रूप से आदिवासी लोकसाहित्य को ठीक तरीके से नहीं समझा जा



सकता। आदिवासी साहित्य में लग्न गीत, कृषिगीत, किस्से-कहानियाँ, कहावतें या दंतकथाएँ आदि सामग्री ही लोकसाहित्य नहीं है बल्कि जब हम आदिवासी लोकसाहित्य की बात करते हैं तब उसकी विविधता का, आयुर्वेदिक उपचारों का, उसकी विविध कलाओं का भी साहित्य में समावेश करना पड़ेगा। इसका कारण यह है कि आदिवासियों की प्रत्येक क्रिया के पीछे एक दंतकथा जुड़ी हुई होती है। उदाहरण के तौर पर मृत्यु के समय बजाया जाने वाला वाद्य तूर के पीछे भी एक दंतकथा है। उसके प्रत्येक उतार-चढ़ाव में एक संदेश छुपा होता है। इस वाद्य से लोगों के साथ प्रत्यायन किया जा सकता है। ये वाद्य मृत्यु का शवयात्रा की तैयारी का, शमशान पहुँचने का संदेश है।

इस प्रकार ये वाद्य महज एक वाद्य नहीं बल्कि एक साहित्य के रूप में हमारे सामने आता है। इस वाद्य के माध्यम से किसी निश्चित घटना का संदेश दिया जाता है। इसी प्रकार आदिवासियों में विविध विधि-विधानों के समय प्रयुक्त होने वाली सामग्री के पीछे एक प्रकार की मान्यता होती है। इन मान्यताओं को कई बार एक कथा या किस्से का स्वरूप भी दिया जाता है। उदाहरण के तौर पर लग्न के समय उमरा नामक वृक्ष की डाली का उपयोग किया जाता है। इस डाली के प्रयोग के पीछे एक मान्यता है। इस मान्यता की पुष्टि करने वाली दंतकथाएँ भी इसके साथ जुड़ी हुई हैं। इसी प्रकार आदिवासियों की प्रत्येक औषधि के पीछे भी एक दंतकथा जुड़ी हुई होती है। उनकी औषधि वैज्ञानिक तरीके से खोजी गई नहीं होती फिर भी उसमें विज्ञान नहीं है ऐसा हम नहीं कह सकते।

इन औषधियों में उनका अनुभव जुड़ा होता है। इस औषधीय अनुभव के साथ एक दैवीय कथा

भी होती है। आदिवासियों की प्रत्येक कला महज मनोरंजन के हेतु से ही अस्तित्व में नहीं आई बल्कि प्रत्येक प्रसंग या घटना के साथ प्रकृति का तादात्म्य होता है। आदिवासियों का प्रत्येक कार्य कोई आस्था या श्रद्धा के साथ जुड़ा होता है। उसके परिणामस्वरूप मनोरंजन प्राप्त होता है। इससे आदिवासी साहित्य को लिखित या मौखिक के दो भागों में विभक्त नहीं किया जा सकता। आदिवासी साहित्य में उसके तमाम सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास को शामिल करना पड़ेगा। किवदंतियों, बातों, कहावतों आदि के द्वारा आदिवासियों की भाषा अभी तक टिक सकी है। वर्तमान में आदिवासी संस्कृति पर अनेकानेक आक्रमण हुए हैं जिसकी वजह से आदिवासी बोली के कई सारे मूल शब्द गायब हो गए हैं। उसकी मूल भाषा के शब्दों की जगह नए शब्द आ रहे हैं। इससे उसके साहित्य में भी परिवर्तन हो रहा है। परिणामस्वरूप आदिवासियों का प्राचीन स्वरूप वाला साहित्य बहुत कम देखने को मिलता है।

कम्प्यूटर, ट्रेक्टर, मोबाईल आदि नए शब्दों का आगमन आदिवासी साहित्य एवं बोली में हुआ है। आदिवासियों के सामाजिक, सांस्कृतिक ढाँचे का कोई संविधान नहीं है। इनके जीवन के नीति-नियम हिन्दू या मुस्लिम या किसी अन्य धर्म की तरह तयशुदा नहीं है। आदिवासियों के पहनावे के संदर्भ में भी यही कहा जा सकता है। इससे यह कहा जा सकता है कि आदिवासी समाज एक सतत प्रक्रिया से गुजरता समाज है। अतः उनकी भाषा भी स्थिर नहीं है। परिस्थितिवश नए शब्द उसमें जुड़ते रहते हैं तो पुराने खत्म होते रहते हैं। फिर पुरानी स्थिति का यदि निर्माण होता है तो पुराने शब्द फिर से अस्तित्व में आ जाते हैं, इस प्रकार ये प्रक्रिया सतत चलती रहती है। इससे



हम आदिवासी साहित्य को किसी एक निश्चित ढाँचे में नहीं रख सकते उसमें भी सतत बदलाव होता रहता है।

वसावा समुदाय परस्पर तरीके से समान किन्तु अन्य समुदाय से विशिष्ट संस्कृति वाला समुदाय है। ये लोग एक निश्चित क्षेत्र में रहते हैं इससे ये एकता की भावना रखते हैं। इस वसावा समुदाय के पास अपना अस्तित्व टिकाए रखने वाली अनेक प्रकार की सामग्री है जिसमें से साहित्य भी एक महत्वपूर्ण सामग्री है। इस समुदाय की अपनी स्वायत्त मान्यताएँ हैं, आकांक्षाएँ हैं, इच्छाएँ हैं और ये मान्यताएँ अन्य समुदायों से अधिकांश में अलग भी हैं। इससे वसावा समुदाय के साहित्य को उसकी स्वायत्तता प्राप्त है। आदिवासियों के तमाम समुदायों के अस्तित्व का सवाल एक जैसा है, उनका जवाब भी अधिकांश में लगभग एक जैसा ही है, किन्तु उसको प्रस्तुत करने की रीति सभी की अलग-अलग है। अपने जीवन में शरीर का पर्याप्त महत्व है। शरीर ही नहीं होगा तो फिर किसी भी प्रकार का विकास संभव नहीं है। शरीर के बिना हम दूसरे के अस्तित्व को भी नहीं जान सकते। शरीर होती है तो आत्मा होती है और उसकी प्रतीति होती है। शरीर होगा तो हम आत्मा और परमात्मा की बात कर सकेंगे। इस कारण से आदिवासी शरीर को बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि इस शरीर को सम्मान देना चाहिये। इस कारण आदिवासियों में जन्म प्रसंग के उत्सव के दिन ऐसे महत्वपूर्ण अंग के इस धरती पर आने की खुशी और इस शरीर को लम्बे समय तक टिकाए रखने की श्रद्धा में से विविध विधि-विधानों का जन्म होता है। आदिवासियों में लग्न प्रसंग भी अपने जैसा ही दूसरा प्राणी इस धरती पर आए इसलिये उत्सव

की तरह मनाया जाता है। मृत्यु प्रसंग में भी ये देह हमको जहाँ से मिली है और जिसमें से मिली है वापस वहीं पर सजा-धजा कर सौंप देने का माना जाता है।

आदिवासी साहित्य को हम किसी उतार या चढ़ाव का साहित्य नहीं मान सकते। हसु याज्ञिक इस संदर्भ में कहते हैं कि लोक साहित्य के अध्ययन से भी यह तथ्य निकल कर सामने आता है कि समाज का कोई भी वर्ग तथाकथित शिक्षण के अभाव में रहन-सहन, जीवन-मूल्य, मान्यताओं एवं कतिपय छोटे-बड़े भेदभावों की वजह से असंस्कृत या अर्धसंस्कृत नहीं होता। प्रत्येक वर्ग की अपनी ऐथेनिक समूह की महत्व की संस्कृति होती है। जीवन परंपरा और व्यवस्था होती है।<sup>15</sup> वसावा समुदाय का लोकसाहित्य, ऐसा नामाभिधान करता हूँ तब उसमें अधिकांश में आदिवासी साहित्य के लक्षण लागू होते हैं। आदिवासियों के पास से जो कोई भी कला प्राप्त होती है, उसे आदिवासी साहित्य में रखना चाहिए। इस परिस्थित में आदिवासी साहित्य के लिये आदिवासी साहित्य या लोकसाहित्य की संज्ञा का प्रयोग करना मुझे उचित नहीं लगता। साहित्य शब्द में लिखित साहित्य की अर्थछाया खड़ी होती है तो लोकसाहित्य के लिये अधिकांश में ग्रामीण साहित्य की प्रतीति होती है। इससे आदिवासी साहित्य इन सब से अलग ही साहित्य है। आदिवासी साहित्य के लिये आदिवासी लोकविद्या जैसी संज्ञा मुझे अधिक उचित प्रतीत होती है। लोकविद्या को कंठ परंपरा का साहित्य माना जाता है। आज आदिवासियों की अधिकांश लोकविद्या लिखित स्वरूप में मिलती है। तकनीकी विकास के साथ ही ध्वनि मुद्रण साहित्य भी मिलता है। परन्तु ये सारा साहित्य किसी एक व्यक्ति द्वारा सर्जित नहीं है इससे



लिखित स्वरूप में मिलने वाले साहित्य को भी हमको कंठ परंपरा का साहित्य ही मानना पड़ेगा। आदिवासी विस्तार अंग्रेजों के समय तक स्वतन्त्र था। अधिकांश प्रदेशों में राज्य व्यवस्था का अमलीकरण नहीं था। उन पर किसी भी प्रकार का कोई कर लादा नहीं जाता था। नायक ही छोटे-बड़े समुदायों का अपनी परंपरागत पद्धति से शासन करते थे। इससे आदिवासियों की अपनी भाषा, पहनावा, रीति-रिवाज, बातें, गीत आदि टिके रहे। जहाँ-जहाँ आदिवासी समुदाय आजिविका के लिये अन्य समुदायों के संपर्क में आए हैं उन्हीं समुदायों में ही अन्य संपर्क में आने वाले अन्य प्रदेश के समुदायों की भाषा या परंपरा का प्रभाव हुआ है। उसका असर भी लोकसाहित्य में देखने को मिलता है।

आदिवासी साहित्य को हम नए अर्थों में ही जान सकते हैं। हसु याज्ञिक भी बताते हैं कि "आदिवासियों की कंठ परंपरा में कई ऐसे तत्व हैं जो उसकी पहचान को टिका कर रखे हुए हैं और स्पष्ट करते हैं। इससे आदिवासी कंठ परंपरा के साहित्य को लोकसाहित्य की वृहद श्रेणी में से बाहर रख कर एक भिन्न एवं स्वतन्त्र इकाई के रूप में देखना चाहिये। ऐसा होगा तभी इस परंपरा को इसके निजी रूप में जाना जा सकेगा और उसमें निहित विविधता को जाना जा सकेगा। इस परंपरा का स्वतन्त्र पहचान के साथ अध्ययन किया जाए तो ही ये विशिष्ट और सहजता के संदर्भों में जानी जा सकेगी जैसे कि इसका प्रकृति ने पालन-पोषण किया और जिसने खुद प्रकृति को ग्रामीण या नागरिक से अधिक और विशेष रूप से समझा और पोषण किया, तभी आदिवासी की स्वतन्त्र सामाजिक इकाई को यथार्थ रूप में जाना जा सकेगा।"<sup>16</sup>

इस प्रकार देखा जाए तो आदिवासियों की परंपरा लोकसाहित्य से भिन्न है। इससे आदिवासी साहित्य को अलग संज्ञा से जाना जाए यही उचित है। हरिवल्लभ भायाणी इस संदर्भ में कहते हैं कि "कथागीतों में आदिवासी भील आदि कौम के गीत और भद्र समाज के गीतों के बीच भी उनके प्रयोजन, जीवन, रीति, भावना आदि दृष्टि से भिन्न होने के कारण भिन्न स्वरूप में विचार करना जरूरी है।"<sup>17</sup>

गुजरात में आदिवासी साहित्य का विशेष अध्ययन डुंगरी गरासिया की मौखिक परंपराओं का ही हुआ है। इससे आदिवासी साहित्य को ग्राम संस्कृति के साथ जोड़ा जाता है। वास्तव में गरासिया भीलों का प्रदेश राजस्थान की सीमा का प्रदेश है। यह प्रदेश राजनीतिक लड़ाइयों का प्रवेश द्वार है। इस कारण इस प्रदेश की प्रजा अन्य प्रजा के संपर्क में अधिक रही है। इस कारण इसके साहित्य में ग्रामीण संस्कृति का प्रभाव दिखाई देना स्वाभाविक है। आदिवासियों की भाषा, रीति-रिवाज और उनके विविध विधि विधानों को देखते हुए लोकसाहित्य और आदिवासी साहित्य एक-दूसरे से अलग प्रतीत होते हैं। लोकसाहित्य का विशेष संबंध कृषि के साथ है तो आदिवासी साहित्य का विशेष संबंध प्रकृति के साथ है।

आदिवासी साहित्य जीवन के संघर्ष से अपने-आप रचित होता है। इसमें किसी भी प्रकार की कृत्रिमता नहीं होती। इस साहित्य में जिन स्पन्दनों का अनुभव होता है वो सामूहिक होते हैं। आदिवासियों में सामूहिक रूप से आनन्द लिया जाता है। इसमें शामिल होने वाला प्रत्येक व्यक्ति निजानन्द का अनुभव करता है। आदिवासी साहित्य किसी अन्य को खुश करने





वाला साहित्य नहीं है। आदिवासी साहित्य में एक से अधिक भावनाओं के दर्शन होते हैं। आदिवासियों का सबसे नजदीक का संबंध साहित्य से रहा है। इस साहित्य में प्रकृति के विविध स्वरूपों एवं उसके साथ अनुभवों का निदर्शन होता है। वर्षा, वन प्राणियों, पक्षियों, हवा, फूल आदि प्राकृतिक संपदा के साथ जुड़े हुए भावों का निरूपण होता है। आदिवासियों के सामाजिक जीवन के प्रत्येक प्रसंग आनन्द या उल्लास से बने हुए होते हैं। जो मुख्य रूप से गीतों के रूप में व्यक्त होता रहा है। इन गीतों में शब्द, संगीत एवं नृत्यों का समावेश हुआ है। जिनके माध्यम से आदिवासियों ने अपने विविध भावों को इन गीतों में व्यक्त किया है। किसी भी जाति का लोकसाहित्य उसकी लोकसंस्कृति की आत्मा होती है। इसमें उस जाति की जीवन भावनाएं, श्रद्धा जुड़ी हुई होती है। वसावा समुदाय का अपना एक अलग साहित्य है। सामाजिक रीति-रिवाजों के संदर्भ में, विविध धार्मिक रिवाजों के संदर्भ में, अपनी भावना व्यक्त करने के लिये या अपने आराध्य देव को मनाने के लिये विविध विधि-विधानों तथा गीतों का प्रचलन होता है। इसके साथ ही इन संदर्भों में लोककथाएँ भी प्राप्त होती हैं। लोकसाहित्य लोकजीवन के साथ उसकी तमाम अवस्थाओं में जन्म से लेकर मृत्यु तक लगातार जुड़ा हुआ होता है। बालक माता के पेट में होता है तब से उस पर संस्कार सींचन होने लगता है। सीमंत के प्रसंग गीत, छटी के प्रसंग गीत, बचपन में बालक को सुलाने के प्रसंग गीत, खेल-कूद के गीत, बचपन की कहावतें, बचपन में माता-पिता, दादा और अन्य बुजुर्गों द्वारा मिलती बातें, विविध त्यौहारों के निमित्त गाए जाने वाले गीत, विविध ऋतु गीत, बुवाई के गीत, बोलचाल में उपयोग में आने वाली

विभिन्न कहावतें, अन्य विविध प्रसंगों के विधि-विधान आदि साहित्य में लोकजीवन के दर्शन होते हैं। संदर्भ ग्रंथ

- 1 याज्ञिक हसुभाई, लोकविद्याविज्ञान, अहमेदावाद, युनिवर्सिटी ग्रंथनिर्माण बोर्ड 2001, पृष्ठ 15
- 2 परमार जयमल्ल, लोकसाहित्य विमर्श, राजकोट, डॉ. जीवराज महेता स्मारक ट्रस्ट, 1985, पृष्ठ 21
- 3 परमार जयमल्ल, लोकसाहित्य विमर्श, राजकोट, डॉ. जीवराज महेता स्मारक ट्रस्ट, 1985, पृष्ठ 21
- 4 याज्ञिक हसुभाई, गुजरातना आदिवासी लोकसाहित्यनो इतिहास, अहमेदावाद, पार्श्व पब्लिकेशन, 2011, पृष्ठ 54
- 5 याज्ञिक हसुभाई, लोकविद्याविज्ञान, अहमेदावाद, युनिवर्सिटी ग्रंथनिर्माण बोर्ड 2001, पृष्ठ 12
- 6 याज्ञिक हसुभाई, लोकसाहित्य विज्ञा, अहमेदावाद, डिवार्डन पब्लिकेशन, 2012, पृष्ठ 2
- 7 याज्ञिक हसुभाई, लोकविद्या विज्ञा, अहमेदावाद, युनिवर्सिटी ग्रंथनिर्माण बोर्ड 2001, पृष्ठ 1
- 8 मकवाणा राजेश, लोकवांगमय : स्वरूप संदर्भ, राजकोट, साहित्यधारा, 2007, पृष्ठ 20
- 9 जोशी विद्युत, साहित्य अने समाज, अहमेदावाद, पार्श्व पब्लिकेशन, 2012, पृष्ठ 34
- 10 विद्युत, पृष्ठ 35
- 11 जोशी विद्युत, साहित्य अने समाज, अहमेदावाद, पार्श्व पब्लिकेशन, 2012, पृष्ठ 35
- 12 जोशी सुरेश, इति मे इति, अहमेदावाद, पार्श्व पब्लिकेशन, 1987, पृष्ठ 112
- 13 सुरेश, पृष्ठ 112
- 14 पाठक परम, भीली लोकसाहित्यनुं संपादन अने अध्ययन, अहमेदाबाद आदिलोक, 3, 5, जून 2013, पृष्ठ 15
- 15 याज्ञिक हसुभाई, गुजरातना आदिवासी लोकसाहित्यनो इतिहासए, अहमेदावाद, पार्श्व पब्लिकेशन, 2011, पृष्ठ 54
- 16 याज्ञिक हसुभाई, गुजरातना आदिवासी लोकसाहित्यनो इतिहासए, अहमेदावाद, पार्श्व पब्लिकेशन, 2011, पृष्ठ 15, 17 वही, पृष्ठ 15